श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

वेद स्तुति(10.87)

लय अंत जब निकट था आया,श्रुति ने नारायण को जगाया,
वंदन करते भक्त सनंदन, जो था वेद स्तुति कहलाया।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कंधः

अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः

परीक्षिदुवाच

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये, निर्गुणे गुणवृत्तयः ।

कथं(ञ्) चरन्ति श्रुतयः(स्), साक्षात् सदसतः(फ्) परे ॥ 1॥

ब्रह्मण्य+ निर्देश्ये

राजा परीक्षित ने पूछा-भगवन्! ब्रह्म कार्य और कारण से सर्वथा परे है। सत्त्व, रज और तम – ये तीनों गुण उसमें है ही नहीं। मन और वाणी से संकेत रूप में भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। दूसरी

ओर समस्त श्रुतियों का विषय गुण ही है।ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस प्रकार करती हैं? क्योंकि निर्गुण वस्तु का स्वरूप तो उनकी पहुँच के परे है।

श्रीशुक उवाच

बुद्धीन्द्रियमनः(फ्)प्राणान्, जनानामसृजत् प्रभुः ।

मात्रार्थं(ञ्) च भवार्थं(ञ्) च, आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ 2॥

बुद्धीन्+ द्रियमनः(फ्)+ प्राणान्, जनाना+ मसृजत्, आत्मनेऽ+ कल्पनाय

श्रीशुकदेवजी कहते हैं- भगवान ने जीवों के लिये बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की सृष्टि की है। इनके द्वारा वे स्वेच्छा से अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्षका अर्जन कर सकते हैं।

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी, पूर्वेषां(म्) पूर्वजैर्धृता ।

श्रद्धया धारयेद् यस्तां(ङ्), क्षेमं(ङ्) गच्छेदकिं(ञ्)चनः ॥ 3॥

पूर्वजैर् + धृता, गच्छे+ दकिं(ञ्)चनः

ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद का यही स्वरूप है। इसे पूर्वजों के भी पूर्वज सनकादि ऋषियों ने आत्म निश्चय के द्वारा धारण किया है। जो भी मनुष्य इसे श्रद्धापूर्वक धारण करता है, वह बन्धन के कारण समस्त उपाधियों अनात्म भावों से मुक्त होकर अपने परम कल्याणस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

अत्र ते वर्णयिष्यामि, गाथां(न्) नारायणान्विताम् ।

नारदस्य च सं(व्)वाद- मृषेर्नारायणस्य च ॥ 4॥

वर्ण+ यिष्यामि, नारायणान्+ विताम्, मृषेर्+ नारायणस्य

इस विषय में मैं तुम्हें एक गाथा सुनाता हूँ। उस गाथा के साथ स्वयं भगवान नारायण का सम्बन्ध है। वह गाथा देवर्षि नारद और ऋषिश्रेष्ठ नारायण का संवाद है।

एकदा नारदो लोकान्, पर्यटन् भगवत्प्रियः ।

सनातनमृषिं(न्) द्रष्टुं(यँ), ययौ नारायणाश्रमम् ॥ 5॥

भगवत्+ प्रियः, सनात+ नमृषिं(न्), नारायणा+ श्रमम्

एक समय की बात है, भगवान के प्यारे भक्त देवर्षि नारदजी विभिन्न लोकों में विचरण करते हुए सनातन ऋषि भगवान नारायण का दर्शन करने के लिये बदरिकाश्रम गये।

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्, क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।

धर्मज्ञानशमोपेत- माकल्पादास्थितस्तपः ॥ 6॥

भारत+ वर्षेऽस्मिन्, धर्मज्ञा+ नशमोपेत, माकल्पा+ दास्थि+ तस्तपः

भगवान नारायण मनुष्यों के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये इस भारतवर्ष में कल्प के प्रारम्भ से ही धर्म, ज्ञान और संयम के साथ महान तपस्या कर रहे हैं।

तत्रोपविष्टमृषिभिः(ख्), कलापग्रामवासिभिः ।

परीतं(म्) प्रणतोऽपृच्छ-दिदमेव कुरूद्वह ॥ 7॥

तत्रो+ पविष्ट+ मृषिभिः(ख्), कला+ पग्राम+ वासिभिः, प्रणतोऽ+ पृच्छ, कुरूद् + वह

परीक्षित! एक दिन वे कलापग्रामवासी सिद्ध ऋषियों के बीच बैठे हुए थे। उस समय नारदजी ने उन्हें प्रणाम करके बड़ी नम्रता से यही प्रश्न पूछा, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो।

तस्मै ह्यवोचद् भगवा- नृषीणां(म्) शृण्वतामिदम् ।

यो ब्रह्मवादः(फ्) पूर्वेषां(ञ्), जनलोकनिवासिनाम् ॥ 8॥

शृण्वता+ मिदम्, जनलो+ कनिवा+ सिनाम्

भगवान नारायण ने ऋषियों की उस भरी सभा में नारदजी को उनके प्रश्न का उत्तर दिया और वह कथा सुनायी, जो पूर्वकालीन जनलोकनिवासियों में परस्पर वेदों के तात्पर्य और ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते समय कही गयी थी।

श्रीभगवानुवाच

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं(ञ्), जनलोकेऽभवत् पुरा ।

तत्रस्थानां(म्) मानसानां(म्), मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ 9॥

जनलोकेऽ+ भवत्, तत्रस् + थानां(म्), मुनीना+ मूर्ध्व+ रेतसाम्

भगवान नारायण ने कहा- नारदजी प्राचीन काल की बात है। एक बार जनलोक में वहाँ रहनेवाले ब्रह्मा के मानस पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनक, सनन्दन, सनातन आदि परमर्षियों का ब्रह्मसत्र हुआ था।

श्वेतद्वीपं(ङ्) गतवति, त्वयि द्रष्टुं(न्) तदीश्वरम् ।

ब्रह्मवादः(स्) सुसं(वँ)वृत्तः(श्), श्रुतयो यत्र शेरते ।

तत्र हायमभूत् प्रश्नस्- त्वं(म्) मां(यँ) यमनुपृच्छसि ॥ 10॥

उस समय तुम मेरी श्वेतद्वीपाधिपति अनिरुद्ध- मूर्तिका दर्शन करने के लिये श्वेतद्वीप चले गये थे। उस समय वहाँ उस ब्रह्म के सम्बन्ध में बड़ी ही सुन्दर चर्चा हुई थी, जिसके विषय में श्रुतियाँ भी मौन धारण कर लेती है, स्पष्ट वर्णन न करके तात्पर्य रूप से लक्षित कराती हुई उसी में सो जाती है। उस ब्रह्म सत्र में यही प्रश्न उपस्थित किया गया था, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो।

तुल्यश्रुततपः(श्)शीलास्-तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।

अपि चक्रुः(फ्) प्रवचन-मेकं(म्) शुश्रूषवोऽपरे ॥ 11॥

तुल्यश्रुत+ तपः(श्)+ शीलास्, तुल्यस् + वीयारि+ मध्यमाः, शुश्रू+ षवोऽपरे

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार – ये चारों भाई शास्त्रीय ज्ञान, तपस्या और शील-स्वभाव में समान हैं। उन लोगों की दृष्टि में शत्रु, मित्र और उदासीन एक-से हैं। फिर भी उन्होंने अपने में से सनन्दन को तो वक्ता बना लिया और शेष भाई सुनने के इच्छुक बनकर बैठ गये।

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय, शयानं(म्) सह शक्तिभिः ।

तदन्ते बोधयां(ञ्)चक्रुस्-तल्लिङ्गैः(श्) श्रुतयः(फ्) परम् ॥ 12॥

स्वसृष्ट+ मिदमा+ पीय, बोधयां(ञ्)+ चक्रुस्

यथा शयानं(म्) सम्राजं(वँ्), वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।

प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्- बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ 13॥

वन्दिनस्+ तत्+ पराक्रमैः, प्रत्यू+ षेऽभ्येत्य, बोधयन्+त्यनु+ जीविनः

सनन्दनजीने कहा- जिस प्रकार प्रातः काल होने पर सोते हुए सम्राट को जगाने के लिये अनुजीवी बंदीजन उसके पास आते हैं और सम्राट के पराक्रम तथा सुयशका गान करके उसे जगाते हैं, वैसे ही जब परमात्मा अपने बनाये हुए सम्पूर्ण जगत को अपने में लीन करके अपनी शक्तियों के सहित सोये रहते हैं, तब प्रलय के अन्त में श्रुतियाँ उनका प्रतिपादन करनेवाले वचनों से उन्हें इस प्रकार जगाती हैं।

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां(न्),

त्वमसि यदात्मना, समवरुद्धसमस्तभगः ।

अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,

क्वचिदजयाऽऽत्मना च, चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ 14॥

जह्य+ जामजित, दोषगृभी+ तगुणां(न्), समवरुद्ध+ समस्तभगः

अगजगदो+ कसामखिल+ शक्त्य+ वबोधक, क्वचि+ दजयाऽऽत्मना, चरतोऽ+ नुचरेन् + निगमः

श्रुतियाँ कहती हैं- अजित ! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं, आप पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता। आपकी जय हो, जय हो। प्रभो ! आप स्वभाव से ही समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, इसलिये चराचर प्राणियों को फँसानेवाली माया का नाश कर दीजिये। प्रभो! इस गुणमयी माया ने दोष के लिये जीवों के आनन्दादिमय सहज स्वरूप का आच्छादन करके उन्हें बन्धन में डालने के लिये ही सत्त्वादि गुणों को ग्रहण किया है। जगत में जितनी भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ है, उन सबको जगानेवाले आप ही है। इसलिये आपके मिटाये बिना यह माया मिट नहीं सकती।यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन करने में असमर्थ हैं, परन्तु जब कभी आप माया के द्वारा जगत की सृष्टि करके सगुण हो जाते हैं

या उसको निषेध करके स्वरूप स्थिति की लीला करते हैं अथवा अपना सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीविग्रह प्रकट करके क्रीड़ा करते हैं, तभी हम यत्किञ्चित् आपका वर्णन करने में समर्थ होती हैं।

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया

यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।

अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं(ङ्)

कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ 15॥

बृहदुलब्धमे + तदवदयन् + त्यवशेषतया, उदयास् + तमयौ

विकृतेर् + मृदि, दधुस् + त्वयि, मनो+ वचना+ चरितं(ङ्)

इस में सन्देह नहीं कि हमारे द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे सारे मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। क्योंकि जिस समय यह सारा जगत नहीं रहता, उस समय भी आप बच रहते है। जैसे घट, शराव आदि सभी विकार मिट्टी से ही उत्पन्न और उसी में लीन होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय आप में ही होती है। तब क्या आप पृथ्वी के समान विकारी हैं ? नहीं-नहीं, आप तो एकरस - निर्विकार हैं। इसी से तो यह जगत आप में उत्पन्न नहीं, प्रतीत है। इसलिये जैसे घट, शराव आदि का वर्णन भी मिट्टी का ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का वर्णन भी आपका ही वर्णन है। यही कारण है कि विचारशील ऋषि, मन से जो कुछ सोचा जाता है और वाणी से जो कुछ कहा जाता है, उसे आप में ही स्थित, आपका ही स्वरूप देखते हैं। मनुष्य अपना पैर चाहे कहीं भी रखे ईंट, पत्थर या काठ पर—होगा वह पृथ्वी पर ही; क्योंकि वे सब पृथ्वी स्वरूप ही हैं। इसलिये हम चाहे जिस नाम या जिस रूप का वर्णन करें, वह आपका ही नाम, आपका ही रूप है।

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-

क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपां(म्)सि जहुः ।

किमुत पुनः(स्) स्वधामविधुताशयकालगुणाः(फ्),

परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ 16॥

सूरयस् + त्र्यधिपतेऽ+ खिललो+ कमल, क्षपण+ कथामृताब्+ धिमवगाह्य

स्वधा+ मविधुता+ शयका+ लगुणाः(फ्),पदमजस्+रसुखानुभवम्

भगवन ! लोग सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की माया से बने हुए अच्छे-बुरे भावों या अच्छी-बुरी क्रियाओं में उलझ जाया करते हैं, परन्तु आप तो उस मायानटी के स्वामी, उसको नचानेवाले हैं। इसीलिये विचारशील पुरुष आपकी लीला कथा के अमृतसागर में गोते लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने सारे पाप ताप को धो- बहा देते हैं। क्यों न हो, आपकी लीला-कथा सभी जीवों के मायामल को नष्ट करनेवाली जो है। पुरुषोत्तम! जिन महापुरुषों ने आत्मज्ञान के द्वारा अन्तःकरण के राग-द्वेष आदि और शरीर के कालकृत जरा-मरण आदि दोष मिटा दिये हैं और निरन्तर आपके उस स्वरूप की

अनुभूति में मग्न रहते हैं, जो अखण्ड आनन्दस्वरूप है, उन्होंने अपने पाप-तापों को सदा के लिये शान्त, भस्म कर दिया है— इसके विषयमें तो कहना ही क्या है।

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा

महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।

पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः(स्),

सदसतः(फ्) परं(न्) त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥ 17॥

श्वसन् + त्यसुभृतो, महदह+ मादयोऽण्ड+ मसृजन्,

पुरुषविधोऽन् + वयोऽत्र, चरमोऽन् + नमयादिषु, यदेष्+ ववशे+ षमृतम्

भगवन ! प्राणधारियों के जीवन की सफलता इसी में है कि वे आपका भजन-सेवन करें, आपकी आज्ञा का पालन करें; यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है और उनके शरीर में श्वास का चलना ठीक वैसा ही है, जैसा लुहार की धौंकनी में हवा का आना-जाना । महत्तत्त्व, अहंकार आदि ने आपके अनुग्रह से- आपके उन में प्रवेश करने पर ही इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय — इन पाँचों कोशों में पुरुष रूप से रहनेवाले, उनमें 'मैं-मैं' की स्फूर्ति करनेवाले भी आप ही हैं ! आपके ही अस्तित्व से उन कोशों के अस्तित्व का अनुभव होता है और उनके न रहने पर भी अन्तिम अवधि रूप से आप विराजमान रहते हैं। इस प्रकार सब में अन्वित और सबकी अवधि होने पर भी आप असंग ही हैं। क्योंकि वास्तव में जो कुछ वृत्तियों के द्वारा अस्ति अथवा नास्ति के रूप में अनुभव होता है, उन समस्त कार्य-कारणों से आप परे हैं। 'नेति- नेति' के द्वारा इन सबका निषेध हो जाने पर भी आप ही शेष रहते हैं, क्योंकि आप उस निषेध के भी साक्षी हैं और वास्तवमें आप ही एकमात्र सत्य हैं।

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः(फ्)

परिसरपद्धतिं(म्) हृदयमारुणयो दहरम् ।

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः(फ्) परमं(म्)

पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ 18॥

उदरमु+ पासते,ऋषि+वर्त्मसु, कृतान् + तमुखे

ऋषियों ने आपकी प्राप्ति के लिये अनेकों मार्ग माने हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं, वे मणिपूरक चक्र में अग्नि रूप से आपकी उपासना करते हैं। अरुणवंश के ऋषि समस्त नाड़ियों के निकलने के स्थान हृदय में आपके परम सूक्ष्मस्वरूप दहर ब्रह्म की उपासना करते हैं। प्रभो ! हृदय से ही आपको प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्ग सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक गयी हुई है। जो पुरुष उस ज्योतिर्मय मार्ग को प्राप्त कर लेता है और उससे ऊपर की ओर बढ़ता है, वह फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता।

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया

तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।

अथ वितथास्वमूष्ववितथं(न्) तव धाम समं(वँ)

विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥ 19॥

स्वकृत+ विचित्र + योनिषु, विशन् + निव, तरतमतश् + चकास् + स्यनलवत्

वितथास् + वमूष्व + वितथं(न्), विरजधियोऽन् + वयन्+ त्यभिवि+ पण्यव

भगवन ! आपने ही देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियाँ बनायी हैं। सदा-सर्वत्र सब रूपों में आप हैं ही, इसलिये कारण रूप से प्रवेश न करने पर भी आप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो उसमें प्रविष्ट हुए हों। साथ ही विभिन्न आकृतियों का अनुकरण करके कहीं उत्तम, तो कहीं अधम रूप से प्रतीत होते हैं, जैसे आग छोटी-बड़ी लकड़ियों और कर्मों के अनुसार प्रचुर अथवा अल्प परिमाण में या उत्तम अधम रूप में प्रतीत होती है। इसलिये संत पुरुष लौकिक पारलौकिक कर्मों की दूकानदारी से, उनके फलों से विरक्त हो जाते हैं और अपनी निर्मल बुद्धि से सत्य-असत्य, आत्मा अनात्मा को पहचानकर जगत के झूठे रूपों में नहीं फँसते; आपके सर्वत्र एकरस, समभाव से स्थित सत्य स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं।

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसं(वँ)वरणं(न्)

तव पुरुषं(वँ) वदन्त्यखिलशक्तिधृतों(म्)ऽशकृतम् ।

इति नृगतिं(वँ) विविच्य कवयो निगमावपनं(म्)

भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं(म्) भुवि विश्वसिताः ॥ 20॥

स्वकृतपुरेष् + वमीष्व+ बहिरन्+ तरसं(वँ) +वरणं(न्)

वदन् + त्यखिल + शक्तिधृतो(म्)ऽ+ शकृतम्, उपासतेऽङ्घ्रि+ मभवं(म्)

प्रभो! जीव जिन शरीरों में रहता है, वे उसके कर्म के द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तव में उन शरीरों के कार्य-कारण रूप आवरणों से वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणों की सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियों को धारण करनेवाले आपका ही वह स्वरूप है। स्वरूप होने के कारण अंश न होने पर भी उसे अंश कहते हैं और निर्मित न होने पर भी निर्मित कहते हैं। इसी से बुद्धिमान पुरुष जीव के वास्तविक स्वरूप पर विचार करके परम विश्वास के साथ आपके चरणकमलों की उपासना करते हैं। क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मों के समर्पण स्थान और मोक्ष स्वरूप हैं।

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्-

चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते

चरणसरोजहंस(म्)सकुलसं(ङ्)गविसृष्टगृहाः ॥ 21॥

दुरवगमात् + मतत्त्व + निगमाय, तवात्+ ततनोश्

चरितमहा+ मृताब्धि+ परिवर्त + परिश्रमणाः, केचि+ दपवर्ग+ मपीश्वर,

चरणसरो+ जहं(म्)स+ कुलसं(ङ्)ग+ विसृष्टगृहाः

भगवन ! परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उसी का ज्ञान कराने के लिये आप विविध प्रकार के अवतार ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृत के महासागर से भी मधुर और मादक होती है। जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी 'थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्द में मग्न हो जाते हैं। कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओं को छोड़कर मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते—स्वर्ग आदि की तो बात ही क्या है। वे आपके चरण-कमलों के प्रेमी परमहंसों के सत्संग में, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवन में प्राप्त अपनी घर-गृहस्थी का भी परित्याग कर देते हैं।

त्वदनुपथं(ङ्) कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्-

चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।

न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो

यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ 22॥

कुला+ यमिदमात् + मसुहृत्+ प्रियवच्, असदुपा+ सनयाऽऽत् + महनो, भ्रमन्+ त्युरुभये

प्रभो! यह शरीर आपकी सेवा का साधन होकर जब आपके पथ का अनुरागी हो जाता है, तब आत्मा, हितैषी, सुहृद् और प्रिय व्यक्ति के समान आचरण करता है। आप जीव के सच्चे हितैषी, प्रियतम और आत्मा ही हैं और सदा सर्वदा जीव को अपनाने के लिये तैयार भी रहते हैं। इतनी सुगमता होने पर तथा अनुकूल मानव शरीर को पाकर भी लोग सख्यभाव आदि के द्वारा आपकी उपासना नहीं करते, आप में नहीं रमते, बल्कि इस विनाशी और असत् शरीर तथा उसके सम्बन्धियों में ही रम जाते हैं, उन्हीं की उपासना करने लगते हैं और इस प्रकार अपने आत्मा का हनन करते हैं, उसे अधोगति में पहुँचाते हैं। भला यह कितने कष्ट की बात है ! इसका फल यह होता है कि उनकी सारी वृत्तियाँ, सारी वासनाएँ शरीर आदि में ही लग जाती है और फिर उनके अनुसार उनको पशु-पक्षी आदि के न जाने कितने बुरे-बुरे शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं और इस प्रकार अत्यन्त भयावह जन्म-मृत्यु रूप संसार में भटकना पड़ता है।

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्-

मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः(स्) स्मरणात् ।

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो

वयमपि ते समाः(स्) समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥ 23॥

निभृ+ तमरुन्+ मनोऽक्ष+ दृढयो+ गयुजो, उरगेन्द्र+ भोगभुज+ दण्डविषक्त+ धियो,

समदृशोऽङ्घ्रि+ सरोजसुधाः

प्रभो ! बड़े-बड़े विचारशील योगी- यति अपने प्राण, मन और इन्द्रियों को वश में करके दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा हृदय में आपकी उपासना करते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें जिस पद की प्राप्ति होती है, उसी की प्राप्ति उन शत्रुओं को भी हो जाती है, जो आपसे वैर- भाव रखते हैं। क्योंकि स्मरण तो वे भी करते ही हैं। कहाँ तक कहें, भगवन ! वे स्त्रियाँ,जो अज्ञानवश आपको परिच्छिन मानती हैं और आपकी शेषनाग के समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओं के प्रति काम भाव से आसक्त रहती हैं, जिस परम पद को प्राप्त करती हैं, वही पद हम श्रुतियों को भी प्राप्त होता है- यद्यपि हम आपको सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हैं और आपके चरणारविन्द का मकरन्द रस पान करती रहती हैं। क्यों न हो, आप समदर्शी जो हैं। आपकी दृष्टि में उपासक के परिच्छिन या अपरिच्छित्र भाव में कोई अन्तर नहीं है।

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं(यँ)

यत उदगाद्दषिर्यमनु देवगणा उभये ।

तर्हि न सन्न चासदुभयं(न्) न च कालजवः(ख्)

किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥ 24॥

बता+ वरजन्+ मलयोऽग्र+ सरं(यँ), उदगा+ दृषिर्+ यमनु, शास्त्र+ मव+ कृष्य

भगवन! आप अनादि और अनन्त हैं। जिसका जन्म और मृत्यु काल से सीमित है, वह भला, आपको कैसे जान सकता है। स्वयं ब्रह्माजी, निवृत्ति परायण सनकादि तथा प्रवृत्ति परायण मरीचि आदि भी बहुत पीछे आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। जिस समय आप सबको समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई साधन नहीं रह जाता, जिससे उनके साथ ही सोया हुआ जीव आपको जान सके। क्योंकि उस समय न तो आकाशादि स्थूल जगत रहता है और न तो महत्तत्त्वादि सूक्ष्म जगत । इन दोनों से बने हुए शरीर और उनके निमित्त क्षण-मुहूर्त आदि काल के अंग भी नहीं रहते। उस समय कुछ भी नहीं रहता। यहाँ तक कि शास्त्र भी आप में ही समा जाते हैं।

जनिमसतः(स्) सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां(वँ)

विपणमृतं(म्) स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।

त्रिगुणमयः(फ्) पुमानिति भिदा यदबोधकृता

त्वयि न ततः(फ्) परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ 25॥

मृतिमुतात्+ मनि, स्मरन्त्यु+ पदिशन्ति, भवे+ दवबो+ धरसे

प्रभो ! कुछ लोग मानते हैं कि असत् जगत् की उत्पत्ति होती है और कुछ लोग कहते हैं कि सत्-रूप दुःखों का नाश होने पर मुक्ति मिलती है। दूसरे लोग आत्मा को अनेक मानते हैं, तो कई लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोक रूप व्यवहार को सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी बातें भ्रममूलक हैं और वे आरोप करके ही ऐसा उपदेश करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है— इस प्रकार का भेदभाव केवल अज्ञान से ही होता है और आप अज्ञान से सर्वथा परे हैं। इसलिये ज्ञान स्वरूप आप में किसी प्रकारौका भेदभाव नहीं है।

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्

सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।

न हि विकृतिं(न्) त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया

स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ 26॥

मनस् + त्रिवृत् + त्वयि, विभात्+ यसदा+ मनुजात्,

सदभिमृशन्+ त्यशेषमिदमात्+ मतयाऽऽत्+ मविदः

स्वकृतमनु+ प्रविष्ट+ मिदमात्+ मतया+ वसितम्

यह त्रिगुणात्मक जगत मन की कल्पना मात्र है।केवल यही नहीं, परमात्मा और जगत से पृथक् प्रतीत होने वाला पुरुष भी कल्पना मात्र ही है। इस प्रकार वास्तव में असत होने पर भी अपने सत्य अधिष्ठान आपकी सत्ता के कारण यह सत्य-सा प्रतीत हो रहा है। इसलिये भोक्ता, भोग्य और दोनों के सम्बन्ध को सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ आदि जितना भी जगत है, सबको आत्म ज्ञानी पुरुष आत्म रूप से सत्य ही मानते हैं। सोने से बने हुए कड़े, कुण्डल आदि स्वर्ण रूप ही तो हैं; इसलिये उनको इस रूप में जानने वाला पुरुष उन्हें छोड़ता नहीं, वह समझता है कि यह भी सोना है। इसी प्रकार यह जगत आत्मा में ही कल्पित, आत्मा से ही व्याप्त है; इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष इसे आत्मरूप ही मानते हैं।

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया

त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।

परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां(म्)स्-

त्वयि कृतसौहृदाः(ख्) खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ 27॥

चरन् + त्यखिल+ सत्त्वनिके+ ततया, पदाऽऽ+ क्रमन्+ त्यविगणय्य

भगवन ! जो लोग यह समझते हैं कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थों के अधिष्ठान हैं, सबके आधार हैं और सर्वात्म भाव से आपका भजन-सेवन करते हैं, वे मृत्यु को तुच्छ समझकर उसके सिर पर लात मारते हैं अर्थात उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग आपसे विमुख हैं, वे चाहे जितने बड़े विद्वान् हों, उन्हें आप कर्मों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों से पशुओं के समान बाँध लेते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने आपके साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ रखा है, वे न केवल अपनेको बल्कि दूसरों को भी पवित्र कर देते हैं—जगत के बन्धन से छुड़ा देते हैं। ऐसा सौभाग्य भला, आपसे विमुख लोगों को कैसे प्राप्त हो सकता है।

त्वमकरणः(स्) स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्-

तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।

वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो

विदधति यँत्र ये त्वधिकृता भवतँश्चकिताः ॥ 28॥

स्वराड+ खिलका+ रकशक्ति+ धरस्, बलिमुद् + वहन्ति, समदन् + त्यजया+ निमिषाः

वर्षभुजोऽ+ खिलक्षिति+ पतेरिव, भवतश्+ चकिताः

प्रभो! आप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करणों से — चिन्तन, कर्म आदि के साधनों से सर्वथा रहित हैं। फिर भी आप समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणों की शक्तियों से सदा-सर्वदा सम्पन्न हैं। आप स्वतः सिद्ध ज्ञानवान, स्वयंप्रकाश हैं; अतः कोई काम करने के लिये आपको इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। जैसे छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी प्रजा से कर लेकर स्वयं अपने सम्राट को कर देते हैं, वैसे ही मनुष्यों के पूज्य देवता और देवताओं के पूज्य ब्रह्मा आदि भी अपने अधिकृत प्राणियों से पूजा स्वीकार करते हैं और माया के अधीन होकर आपकी पूजा करते रहते हैं। वे इस प्रकार आपकी पूजा करते हैं कि आपने जहाँ जो कर्म करने के लिये उन्हें नियुक्त कर दिया है, वे आपसे भयभीत रहकर वहीं वह काम करते रहते हैं।

स्थिरचरजातयः(स्) स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो

विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।

न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्

वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां(न्) दधतः ॥ 29॥

स्थिर+ चरजातयः(स्), स्युरजयोत्+ थनिमित्तयुजो

नित्यमुक्त ! आप मायातीत हैं, फिर भी जब अपने ईक्षण मात्र से - संकल्प मात्र से माया के साथ, क्रीडा करते हैं, तब आपका संकेत पाते ही जीवों के सूक्ष्म शरीर और उनके सुप्त कर्म-संस्कार जग जाते हैं और चराचर प्राणियों की उत्पत्ति होती है। प्रभो ! आप परम दयालु हैं। आकाश के समान सबमें सम होने के कारण न तो कोई आपका अपना है और न तो पराया। वास्तव में तो आपके स्वरूप में मन और वाणी की गति ही नहीं है। आप में कार्य-कारण रूप प्रपंच का अभाव होनेसे बाह्य दृष्टि से आप शून्य के समान ही जान पड़ते हैं; परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण आप परम सत्य हैं।

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्-

तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।

अजनि च यन्मयं(न्) तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्

सममनुजानतां(यँ) यदमतं(म्) मतदुष्टतया ॥ 30॥

ध्रुवास्+ तनुभृतो, सम+ मनुजा+ नतां(यँ)

भगवन ! आप नित्य एकरस हैं। यदि जीव असंख्य हों और सब-के-सब नित्य एवं सर्वव्यापक हों, तब तो वे आपके समान ही हो जायँगे; उस हालत में वे शासित हैं और आप शासक—यह बात बन ही नहीं सकती, और तब आप उनका नियन्त्रण कर ही नहीं सकते। उनका नियन्त्रण आप तभी कर सकते हैं, जब वे आप से उत्पन्न एवं आपकी अपेक्षा न्यून हों। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब-के-सब जीव तथा

इनकी एकता या विभिन्नता आपसे ही उत्पन्न हुई है। इसलिये आप उनमें कारण रूप से रहते हुए भी उनके नियामक हैं। वास्तव में आप उनमें समरूप से स्थित हैं। परन्तु यह जाना नहीं जा सकता कि आपका वह स्वरूप कैसा है। क्योंकि जो लोग ऐसा समझते हैं कि हमने जान लिया, उन्होंने वास्तव में आपको नहीं जाना; उन्होंने तो केवल अपनी बुद्धि के विषयको जाना है, जिससे आप परे हैं। और साथ ही मति के द्वारा जितनी वस्तुएँ जानी जाती हैं, वे मतियों की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं; इसलिये उनकी दुष्टता, एक मत के साथ दूसरे मत का विरोध प्रत्यक्ष ही है। अतएव आपका स्वरूप समस्त मतों के परे है।

न घटत उ॑द्भवः(फ्) प्रकृतिपूरुषयोरजयो-

रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबु॑द्बुदवत् ।

त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः(फ्) परमे

सरित इवार्णवे मधुनि लि॑ल्युरशेषरसाः ॥ 31॥

प्रकृतिपू+ रुषयो+ रजयो, भवन् + त्यसुभृतो, जलबुद्+ बुदवत्,

विविधना+ मगुणैः(फ्), लिल्युरशे+ षरसाः

स्वामिन! जीव आप से उत्पन्न होता है, यह कहने का ऐसा अर्थ नहीं है कि आप परिणाम के द्वारा जीव बनते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं। अर्थात उनका वास्तविक स्वरूप - जो आप हैं— कभी वृत्तियों के अंदर उतरता नहीं, जन्म नहीं लेता। तब प्राणियों का जन्म कैसे होता है ? अज्ञान के कारण प्रकृति को पुरुष और पुरुष को प्रकृति समझ लेने से, एक का दूसरे के साथ संयोग हो जाने से जैसे 'बुलबुला' नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, परन्तु उपादान- कारण जल और निमित्त- कारण वायु के संयोग से उसकी सृष्टि हो जाती है। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति का अध्यास हो जाने के कारण ही जीवों के विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। अन्त में जैसे समुद्र में नदियाँ और मधु में समस्त पुष्पों के रस समा जाते हैं, वैसे ही वे सब-के-सब उपाधिरहित आपमें समा जाते हैं।

नृषु तव माययाभ्रममीष्ववगत्य भृशं(न्)

त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।

कथमनुवर्ततां(म्) भवभयं(न्) तव यद् भ्रुकुटिः(स्)

सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥ 32॥

भ्रम+ ममीष्व+ वगत्य, भावमनु+ प्रभवम्, कथमनु+ वर्ततां(म्)

मुहुस् + त्रिणे+ मिरभवच् + छरणेषु

भगवन ! सभी जीव आपकी माया से भ्रम में भटक रहे हैं, अपने को आप से पृथक मानकर जन्म-मृत्यु का चक्कर काट रहे हैं। परन्तु बुद्धिमान पुरुष इस भ्रम को समझ लेते हैं और सम्पूर्ण भक्ति भाव से आपकी शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि आप जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुड़ानेवाले हैं। यद्यपि शीत, ग्रीष्म

और वर्षा — इन तीन भागों वाला कालचक्र आपका भ्रूविलासमात्र है, वह सभी को भयभीत करता है, परन्तु वह उन्हीं को बार-बार भयभीत करता है, जो आपकी शरण नहीं लेते। जो आपके शरणागत भक्त हैं, उन्हें भला, जन्म-मृत्यु रूप संसार का भय कैसे हो सकता है?

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं(यँ)

य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।

व्यसनशतान्विताः(स्) समवहाय गुरोश्चरणं(वँ)

वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ 33॥

विजितहृषी+ कवायुभिरदान्+ तमनस्+ तुरगं(यँ), यन्तु+ मतिलो+ लमुपा+ यखिदः

व्यसन+ शतान्विताः(स्), गुरोश्+ चरणं(वँ), सन्त्य+ कृत+ कर्णधरा

अजन्मा प्रभो! जिन योगियों ने अपनी इन्द्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी, जब गुरुदेव के चरणों की शरण न लेकर उच्छृंखल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंग को अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं, तब अपने साधनों में सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है।उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर यात्रा करनेवाले व्यापारियों की होती है।

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैस्-

त्वयि सति किं(न्) नृणां(म्) श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।

इति सदजानतां(म्) मिथुनतो रतये चरतां(म्)

सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ 34॥

स्वजन+ सुतात्मदा+ रधनधा+ मधरा+ सुरथैस्, स्वनिरस् + तभगे

भगवन्! आप अखण्ड आनन्द स्वरूप और शरणागतों के आत्मा हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, महल, पृथ्वी, प्राण और रथ आदि से क्या प्रयोजन है? जो लोग इस सत्य सिद्धान्त को न जानकर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से होनेवाले सुखों में ही रम रहे हैं, उन्हें संसार में भला ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुखी कर सके। क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही विनाशी हैं, एक-न- एक दिन मटियामेट हो जानेवाली हैं। और तो क्या, वे स्वरूपसे ही सारहीन और सत्ताहीन हैं; वे भला, क्या सुख दे सकती हैं।

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदास्-

त उत भवत्पदाम्बुजह्रदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।

दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ 35॥

पुरुपुण्य+ तीर्थसदनान् + यृषयो, भवत् + पदाम्बुज+ हृदोऽ+ घभिदङ् + घ्रिजलाः

सकृन्+ मनस्+ त्वयि, पुरुषसा+ रहरा+ वसथान्

भगवन! जो ऐश्वर्य, लक्ष्मी, विद्या, जाति, तपस्या आदि के घमंड से रहित हैं, वे संत पुरुष इस पृथ्वीतलवपर परम पवित्र और सबको पवित्र करनेवाले पुण्यमय सच्चे तीर्थस्थान हैं। क्योंकि उनके हृदय में आपके चरणारविन्द सर्वदा विराजमान रहते हैं और यही कारण है कि उन संत पुरुषोंका चरणामृत समस्त पापों और तापों को सदा के लिये नष्ट कर देनेवाला है। भगवन ! आप नित्य-आनन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो एक बार भी आपको अपना मन समर्पित कर देते हैं -आप में मन लगा देते हैं—वे उन देह-गेहों में कभी नहीं फँसते जो जीव के विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा और शान्ति आदि गुणों का नाश करनेवाले हैं। वे तो बस, आप में ही रम जाते हैं।

सत इदमुत्थितं(म्) सदिति चेन्ननु तर्कहतं(वँ्)

व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।

व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया

भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ 36॥

इषितोऽन् + धपरम् + परया, उरुवृत्ति+ भिरुक् + थजडान्

भगवन! जैसे मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप ही होता है, वैसे ही सत से बना हुआ जगत भी सत ही है—यह बात युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि कारण और कार्य का निर्देश ही उनके भेदका द्योतक है। यदि केवल भेद का निषेध करने के लिये ही ऐसा कहा जा रहा हो तो पिता और पुत्र में, दण्ड और घटनाश में कार्य-कारण-भाव होने पर भी वे एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार कार्य-कारण की एकता सर्वत्र एक सी नहीं देखी जाती। यदि कारण-शब्द से निमित्त-कारण न लेकर केवल उपादान-कारण लिया जाय—जैसे कुण्डलका सोना – तो भी कहीं-कहीं कार्य की असत्यता प्रमाणित होती है; जैसे रस्सी में साँप। यहाँ उपादान-कारण के सत्य होनेपर भी उसका कार्य सर्प सर्वथा असत्य है। यदि यह कहा जाय कि प्रतीत होनेवाले सर्प का उपादान कारण केवल रस्सी नहीं है, उसके साथ अविद्याका – भ्रमका मेल भी है, तो यह समझना चाहिये कि अविद्या और सत वस्तु के संयोग से ही इस जगत की उत्पत्ति हुई है। इसलिये जैसे रस्सी में प्रतीत होनेवाला सर्प मिथ्या है, वैसे ही सत वस्तु में अविद्या के संयोग से प्रतीत होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत भी मिथ्या है। यदि केवल व्यवहार की सिद्धि के लिये ही जगत की सत्ता अभीष्ट हो, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि वह पारमार्थिक सत्य न होकर केवल व्यावहारिक सत्य है। यह भ्रम व्यावहारिक जगत में माने हुए काल की दृष्टि से अनादि है; और अज्ञानीजन बिना विचार किये पूर्व-पूर्व के भ्रम से प्रेरित होकर अन्ध परम्परा से इसे मानते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में कर्मफल को सत्य बतलाने वाली श्रुतियाँ केवल उन्हीं लोगों को भ्रम में डालती हैं, जो कर्म में जड हो रहे हैं और यह नहीं समझते कि इनका तात्पर्य कर्म फल की नित्यता बतलाने में नहीं, बल्कि उनकी प्रशंसा करके उन कर्मों में लगाने में है।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-

दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।

अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्-

वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ 37॥

द्रविणजा+ तिविकल्प+ पथैर्, वितथमनो+ विलास+ मृतमित्य+ वयन्त्यबुधाः

भगवन! वास्तविक बात तो यह है कि यह जगत उत्पत्ति के पहले नहीं था और प्रलय के बाद नहीं रहेगा; इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीच में भी एकरस परमात्मा में मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसी से हम श्रुतियाँ इस जगत का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टी में घड़ा, लोहे में शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तव में मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मा में वर्णित जगत नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मन की कल्पना है। इसे ना समझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं।

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणां(म्)श्च जुषन्

भजति सरूपतां(न्) तदनु मृत्युमपेतभगः ।

त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो

महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥ 38॥

त्वजा+ मनुशयीत, मृत्युमपे+ तभगः, त्वचमात् + तभगो ,मही+ यसेऽष्ट+ गुणितेऽ+ परिमे+ यभगः

भगवन्! जब जीव माया से मोहित होकर अविद्या को अपना लेता है, उस समय उसके स्वरूपभूत आनन्दादि गुण ढक जाते हैं; वह गुणजन्य वृत्तियों, इन्द्रियों और देहों में फँस जाता है तथा उन्हीं को अपना आपा मानकर उनकी सेवा करने लगता है। अब उनकी जन्म मृत्यु में अपनी जन्म-मृत्यु मानकर उनके चक्कर में पड़ जाता है। परन्तु प्रभो ! जैसे साँप अपने केंचुल से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, उसे छोड़ देता है-वैसे ही आप माया -अविद्या से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, उसे सदा-सर्वदा छोड़े रहते हैं। इसी से आपके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सदा-सर्वदा आपके साथ रहते हैं। अणिमा आदि अष्टसिद्धियों से युक्त परमैश्वर्य में आपकी स्थिति है। इसी से आपका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य अपरिमित है, अनन्त है; वह देश, काल और वस्तुओं की सीमा से आबद्ध नहीं है।

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा

दुरधिगमोऽसतां(म्) हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।

असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं(म्) भगवन्-

ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥ 39॥

समुद् + धरन्ति, दुरधिगमोऽ+ सतां(म्), गतोऽस् + मृतकण्ठमणिः

असुतृपयो+ गिना+ मुभयतोऽप् + यसुखं(म्), ननपगतान् + तकादनधिरू+ ढपदाद्

भगवन ! यदि मनुष्य योगी-यति होकर भी अपने हृदय की विषय-वासनाओं को उखाड़ नहीं फेंकते तो उन असाधकों के लिये आप हृदय में रहने पर भी वैसे ही दुर्लभ हैं, जैसे कोई अपने गले में मणि पहने हुए हो, परन्तु उसकी याद न रहने पर उसे ढूँढ़ता फिरे इधर-उधर। जो साधक अपनी इन्द्रियों

को तृप्त करने में ही लगे रहते है, विषयों से विरक्त नहीं होते, उन्हें जीवनभर और जीवन के बाद भी दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि वे साधक नहीं, दम्भी हैं। एक तो अभी उन्हें मृत्यु से छुटकारा नहीं मिला है, लोगोंको रिझाने, धन कमाने आदि के क्लेश उठाने पड़ रहे हैं, और दूसरे आपका स्वरूप न जानने के कारण अपने धर्म-कर्म का उल्लंघन करने से परलोक में नरक आदि प्राप्त होनेका भय भी बना ही रहता है।

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोर्-

गुणविगुणान्वयां(म्)स्तर्हि देहभृतां(ञ्) च गिरः ।

अनुयुगमन्वहं(म्) सगुण गीतपरम्परया

श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ 40॥

भवदुत् + थशुभा+ शुभयोर्, गुणविगुणान् + वयां(म्)स्तर्हि, यतस्+ त्वम+ पवर्ग+ गतिर्मनुजैः

भगवन! आपके वास्तविक स्वरूप को जाननेवाला पुरुष आपके दिये हुए पुण्य और पाप- कर्मों की फल सुख एवं दुःखों को नहीं जानता, नहीं भोगता; वह भोग्य और भोक्तापन के भाव से ऊपर उठ जाता है। उस समय विधि- निषेध के प्रतिपादक शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि वे देहाभिमानियों के लिये है। उनकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता। जिसे आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि प्रतिदिन आपकी प्रत्येक युग में की हुई लीलाओं, गुणों का गान सुन-सुनकर उनके द्वारा आपको अपने हृदय में बैठा लेता है तो अनन्त, अचिन्त्य, दिव्य गुणगणों के निवासस्थान प्रभो! आपका वह प्रेमी भक्त भी पाप-पुण्यों के फल सुख-दुःखों और विधि निषेधोंसे अतीत हो जाता है। क्योंकि आप ही उनकी मोक्षस्वरूप गति हैं।

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।

ख इव रजां(म्)सि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयस्-

त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ 41॥

ययुरन्त+ मनन्त+ तया, यदन्त+ राण्ड+ निचया, यच्छ्रु+ तयस्, फलन् + त्यतन्+ निरसनेन

भगवन ! स्वर्गादि लोकों के अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा प्रभृति भी आपकी थाह— आपका पार न पा सके; और आश्चर्य की बात तो यह है कि आप भी उसे नहीं जानते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं, तब कोई जानेगा कैसे ? प्रभो ! जैसे आकाश में हवा से धूल के नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आप में काल के वेग से अपने से उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणों के सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब भला, आपकी सीमा कैसे मिले। हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूपका साक्षात वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओं का निषेध करते-करते अन्त में अपना भी निषेध कर देती हैं और आप में ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं।

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः(फ्) पुत्रा, आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।

सनन्दनमथानर्चुः(स्), सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ॥ 42॥

आश्रुत्यात्+ मानुशा+ सनम्, सनन्द+ नमथा+ नर्चुः(स्)

भगवान नारायण ने कहा- देवर्षे! इस प्रकार सनकादि ऋषियों ने आत्मा और ब्रह्म की एकता बतलानेवाला उपदेश सुनकर आत्म स्वरूप को जाना और नित्य सिद्ध होने पर भी इस उपदेश से कृतकृत्य- से होकर उन लोगों ने सनन्दन की पूजा की।

इत्यशेषसमाम्नाय-पुराणोपनिषद्रसः ।

समुद्धृतः(फ्) पूर्वजातैर्- व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ 43॥

इत्यशे+ षसमाम् + नाय, पुराणो+ पनिषद्रसः, व्योमया+ नैर् + महात्मभिः

नारद ! सनकादि ऋषि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए थे, अतएव वे सबके पूर्वज हैं। उन आकाशगामी महात्माओं ने इस प्रकार समस्त वेद, पुराण और उपनिषदों का रस निचोड़ लिया है, यह सबका सार सर्वस्व है

त्वं(ञ्) चैतद्ब्रह्मदायाद, श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् ।

धारयं(म्)श्चर गां(ङ्) कामं(ङ्), कामानां(म्) भर्जनं(न्) नृणाम् ॥ 44॥

चैतद् + ब्रह्मदा+ याद, श्रद्धयाऽऽत् + मानुशा+ सनम्

देवर्षे ! तुम भी उन्हों के समान ब्रह्मा के मानस पुत्र हो— उनकी ज्ञान- सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो। तुम भी श्रद्धा के साथ इस ब्रह्मात्म विद्या को धारण करो और स्वच्छन्द भाव से पृथ्वी में विचरण करो ।यह विद्या मनुष्यों की समस्त वासनाओं को भस्म कर देनेवाली है।

श्रीशुक उवाच

एवं(म्) स ऋषिणाऽऽदिष्टं(ङ्), गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् ।

पूर्णः(श्) श्रुतधरो राजन्- नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ 45॥

ऋषिणाऽऽ+ दिष्टं(ङ्), श्रद्धयाऽऽत्+ मवान्

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित! देवर्षि नारद बड़े संयमी, ज्ञानी, पूर्णकाम और नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वे जो कुछ सुनते हैं, उन्हें उसकी धारणा हो जाती है। भगवान नारायण ने उन्हें जब इस प्रकार उपदेश किया, तब उन्होंने बड़ी श्रद्धा से उसे ग्रहण किया और उनसे यह कहा।

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते, कृष्णायामलकीर्तये ।

यो धत्ते सर्वभूताना- मभवायोशतीः(ख्) कलाः ॥ 46॥

कृष्णा+ यामल+ कीर्तये, मभवा+ योशतीः(ख्)

देवर्षि नारद ने कहा- भगवन! आप सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण हैं। आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप समस्त प्राणियों के परम कल्याण- मोक्ष के लिये कमनीय कलावतार धारण किया करते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

इत्याद्यमृषिमानम्य, तच्छिष्यां(म्)श्च महात्मनः ।

ततोऽगादाश्रमं(म्) साक्षात्, पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ 47॥

इत्याद् + यमृषिमा+ नम्य, तच्छिष् + यां(म्)श्च, ततोऽगा+ दाश्रमं(म्), पितुर् + द्वैपाय+ नस्य

परीक्षित! इस प्रकार महात्मा देवर्षि नारद आदि ऋषि भगवान नारायण को और उनके शिष्यों को नमस्कार करके स्वयं मेरे पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन के आश्रम पर गये।

सभाजितो भगवता, कृतासनपरिग्रहः ।

तस्मै तद् वर्णयामास, नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ 48॥

कृता+ सनपरिग्रहः, नारायण+ मुखाच् + छ्रुतम्

भगवान वेदव्यास ने उनका यथोचित सत्कार किया। वे आसन स्वीकार करके बैठ गये, इसके बाद देवर्षि नारद ने जो कुछ भगवान नारायण के मुँह से सुना था, वह सब कुछ मेरे पिताजी को सुना दिया।

इत्येतद् वर्णितं(म्) राजन्, यन्नः(फ्) प्रश्नः(ख्) कृतस्त्वया ।

यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये, निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ 49॥

कृतस् + त्वया, ब्रह्मण्य+ निर्देश्ये

राजन ! इस प्रकार मैंने तुम्हें बतलाया कि मन-वाणी से अगोचर और समस्त प्राकृत गुणों से रहित परब्रह्म परमात्मा का वर्णन श्रुतियाँ किस प्रकार करती हैं और उसमें मन का कैसे प्रवेश होता है ? यही तो तुम्हारा प्रश्न था।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो

यः(स्) सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः(श्) शास्ति ताः ।

यं(म्) सं(म्)पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः(ख्) कुलायं(यँ) यथा

तं(ङ्) कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं(न्) ध्यायेदजस्रं(म्) हरिम् ॥ 50॥

योऽस्योत्+ प्रेक्षक, आदि+ मध्य+ निधने, योऽव्यक्त+ जीवेश्वरो

सृष्ट्वे+ दमनु+ प्रविश्य, जहात्+ यजा+ मनुशयी, कैवल्य+ निरस्तयो+ निमभयं(न्)

परीक्षित ! भगवान् ही इस विश्व का संकल्प करते हैं तथा उसके आदि, मध्य और अन्त में स्थित रहते हैं। वे प्रकृति और जीव दोनों के स्वामी हैं। उन्होंने ही इसकी सृष्टि करके जीव के साथ इसमें प्रवेश

किया है और शरीरों का निर्माण करके वे ही उनका नियन्त्रण करते हैं। जैसे गाढ़ निद्रा - सुषुप्ति में मग्न पुरुष अपने शरीर का अनुसन्धान छोड़ देता है, वैसे ही भगवान को पाकर यह जीव माया से मुक्त हो जाता है। भगवान ऐसे विशुद्ध, केवल चिन्मात्र तत्त्व हैं कि उनमें जगत के कारण माया अथवा प्रकृति का रत्ती भर भी अस्तित्व नहीं है। वे ही वास्तव में अभय-स्थान हैं। उनका चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये।

॥ इति* श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्) सं(म्)हितायां(न्) दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नारदनारायण सं(वँ)वादे वेद*स्तुतिर्नाम स*प्ताशीतितमोऽध्यायः

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुद*च्यते
पूर्ण*स्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि*ष्यते ॥

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः॥

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।